**International Journal of Hindi Research**
**www.hindijournal.com**
**ISSN: 2455-2232**
**Received: 13-11-2022, Accepted: 30-11-2022, Published: 15-12-2022**
**Volume 8, Issue 6, 2022, Page No. 25-29**

# ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानियों में निहित दलित प्रतिरोध का स्वरूप

**सदानंद वर्मा**
शोधार्थी, जामिया मिल्लिया इस्लामिया, नई दिल्ली, भारत

**सारांश**
ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानियों में जहां एक और दलित जीवन के अनुभव तथा जिजीविषा की यथार्थ झलक देखने को मिलती है तो वहीं दूसरी ओर अपने स्व से टकराते एवं बचकर निकल जाने की चेष्टा करते कुछ पात्र भी दिखाई पड़ते हैं। उनकी कहानियों में समाज का घिनौना चरित्र, सामाजिक विद्रूपता, अमानवीय प्रवृत्तियों के साथ–साथ शोषण व साजिशों का एक भयावह जाल दिखाई पड़ता है जिसमें उलझा दलित समाज एक ओर तो उन साजिशों से स्वयं को मुक्त करने के लिए नए–नए रास्तों की पड़ताल करता हुआ दिखाई पड़ता है; वहीं दूसरी ओर उस समाज में अपनी पहचान बनाने एवं अपने अधिकारों को प्राप्त करने हेतु निरन्तर संघर्षरत दिखाई पड़ता है। यही कारण है कि जहाँ वह एक ओर अपने अधिकारों को प्राप्त करने के लिए सामाजिक व्यवस्था व उसमें व्याप्त रूढियों, पाखंडों के खिलाफ़ विरोध व प्रतिरोध का स्वर बुलंद करता हुआ नजर आता है तो वहीँ दूसरी ओर उसमें आत्मसम्मान, प्रतिष्ठा, गौरव आदि पाने की तीव्र आकांक्षा भी देखने को मिलता है।

**मूल शब्दः** दलित, दलित लेखन, दलित चेतना, प्रतिरोध, ब्राह्मणवाद, अस्मिता, मानवाधिकार, परंपरावादी सोच, जातिदंश, सामाजिक षड्यंत्र।

हिंदी साहित्य की व्यवस्थित व सुदृढ़ परंपरा होने के बावजूद भी हिंदी दलित साहित्य का स्वरूप दिखाई पड़ता है। यह अत्यंत चिंतन का विषय है क्योंकि कोई भी विचारधारा या चिंतन बिना तर्क या आधार के उत्पन्न नहीं होती। ठीक उसी प्रकार दलित साहित्य अपने तार्किक विचारों और सिद्धांतों के साथ हिंदी साहित्य के समक्ष अपनी उपस्थिति दर्ज करवा रही है। यही कारण है कि आज दलित लेखन और उसकी विचारधारा पर बड़ी ही गंभीरता से चिंतन किया जा रहा है। दलित शब्द, इसके मूल्य, विचारधारा व सिद्धांतों की पड़ताल आज विद्वानों के बीच चिन्तन का विषय बना हुआ है। ऐसे में यह जरूरी हो जाता है कि इस साहित्य की उत्पत्ति व इसके अस्तित्व के बारे में जान लेना। वस्तुतः दलित साहित्य की उत्पत्ति, विमर्श व आंदोलनों के परिणामस्वरूप हुआ है जिसने साहित्य की समाजिकी को एक नए पाठ के सहारे पढ़े जाने के लिए एक विमर्श खड़ा किया है। इसमें पौराणिकता, परंपरा, विरासत, कथा–विषय तथा नायक–नायिका आदि विषयों पर अवलोकन व अन्वेषण किया जा सके। यह न केवल सैद्धांतिक परंपरावादी साहित्य और सौंदर्यशास्त्र को पुनः नए सिरे से परिभाषित करने की वकालत करता है, बल्कि मानव को केंद्र में रखते हुए मानवतावादी साहित्य को सर्वोपरि सिद्ध करने पर जोर देता है।

साहित्यिक शब्दकोशों के अनुसार 'दलित' शब्द का शाब्दिक अर्थ है– "विनष्ट किया हुआ, मसला हुआ, दबाया गया, रौदा गया या कुचला गया।"[1] अर्थात 'दलित' शब्द भारतीय समाज में उस वर्ग के लिए प्रयोग किया जाता है जो समाज में गुलामी, शोषण व तिरस्कृत का जीवन व्यतीत करता आया है। न तो उन्हें कभी स्वतंत्र होकर जीने की आजादी मिली और न ही अपनी अभिव्यक्ति को प्रकट करने की स्वतंत्रता। इसके बावजूद उन्हें सिर्फ प्रताड़ित ही किया जाता रहा है। यह प्रताड़ना चाहे समाज के द्वारा होता रहा है या शास्त्रों के द्वारा। लेकिन वे चारों तरफ से शोषित ही होते रहे हैं। 'दलित' शब्द की व्यापकता को स्पष्ट करते हुए शरण कुमार लिंबाले ने लिखा है कि "दलित वह है जिस पर अस्पृश्यता का नियम लागू किया गया है। जिसे कठोर और गंदे कार्य करने के लिए बाध्य किया गया है। जिसे शिक्षा ग्रहण करने और स्वतंत्र व्यवसाय करने से मना किया गया है और जिस पर सहूतों ने सामाजिक निर्योग्यताओं की संहिता लागू की वही और वही दलित है और इसके अंतर्गत वही जातियां आती हैं, जिन्हें अनुसूचित जातियां कहा जाता है।"[2] दलित साहित्य समग्रतः इन्हीं विचारों से प्रभावित होते हुए साहित्य में न केवल मनुष्य को प्राथमिकता देती है बल्कि उन्हें शिक्षित व संगठित होकर इन षड्यंत्रों के खिलाफ लड़ाई लड़ने के लिए प्रेरित भी करती है। यह सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक व धार्मिक स्तर से पिछड़े हुए और उत्पीड़ित व अपमानित लोगों की पीड़ा को व्यक्त करते हुए वर्ण व्यवस्था के जाल में फंसे लोगों को जागरुक करने की ओर निरन्तर प्रतिबद्ध है; जिससे की समाज से इन रूढ़िवादी कुरितियों, छुआ–छूत, भेद–भाव, सामाजिक, धार्मिक व सांस्कृतिक असमानता को दूर किया जा सके।

हिंदी साहित्य में दलित लेखन को एक व्यवस्थित रूप देने में प्रेमचंद का नाम अग्रणीय है। प्रेमचंद ने अपनी कहानियों में समाज की वास्तविकता को जिस समग्रता के साथ अभिव्यक्त किया है वह हिन्दी के, विशेषकर दलित रचनाकारों के लिए आदर्श के रूप में ठहरता है। उन्होंने दलित कहानियों के क्षेत्र में शूद्र, मंत्र, मंदिर, घासवाली, सद्गति, ठाकुर का कुआं, दूध का दाम, कफन आदि प्रतिष्ठित कहानियों का सृजन किया जिन्हें हिंदी साहित्य में दलित लेखन के कार्य में एक महत्वपूर्ण योगदान के रूप में देखा जा सकता है। लेकिन हिंदी साहित्य में दलित साहित्य को स्थापित करने का कार्य सातवें–आठवें दशक के समय जोरों से किया गया; जब हिंदी साहित्य के प्रतिष्ठित कथाकार कमलेश्वर ने 'सारिका' पत्रिका के दो दलित साहित्यिक विशेषांक 1975 ई. में संपादित किया। इसके बाद महीप सिंह ने 'सचेतना' पत्रिका के माध्यम से 1980 ई. में एक दलित अंक संपादित किया। तदुपरांत 'हंस' पत्रिका में 1992 ई. से राजेंद्र यादव ने 'दलित चेतना रू विशिष्ट संदर्भ प्रेमचंद' नामक विषय से लगातार दलित संबंधी रचनाओं व लेखों को छापते हुए हिन्दी साहित्य में उसे एक प्रतिष्ठित स्थान दिलाने में महती भूमिका निभाई। वैसे मराठी साहित्य के क्षेत्र में 1972 ई. में ही 'दलित पैंथर' पत्रिका की स्थापना हो गई थी जहां से हिन्दी दलित रचनाकारों को एक प्रेणना मिलती है।

हिन्दी में दलित साहित्य की जहाँ तक बात करें तो ओमप्रकाश वाल्मीकि का स्थान न केवल इस साहित्य की कोटि में सबसे पहले आता है बल्कि दलित साहित्य लेखन में उनके कार्यों को सराहा भी जाता है। उन्होंने दलित समाज और उनकी स्थितियों को न केवल जानते थे बल्कि दलित समाज में जन्म लेने के कारण वे उन सभी समस्याओं, मजबूरियों, कष्टों और जातिदंश की पीड़ा को भोगा भी था। यही कारण है कि वे अपनी रचनाओं के माध्यम से उन पहलुओं को उठाने का प्रयास करते हैं जिनको सवर्ण समाज देख ही नहीं पाता। अथवा उस दृष्टि से वह सोच ही नहीं पाता जैसे एक दलित बुद्धिजीवी उन घटनाओं या समस्याओं पर सोचता है। दलित समुदाय और उसके जीवन की वास्तविक स्थितियों की पड़ताल करते हुए ओमप्रकाश वाल्मीकि लिखते हैं, कि "वह पैदा होते ही भय के वातावरण में सांस लेने को बाध्य होता है। इसीलिए वह सहज जीवन नहीं जी पाता, जैसा एक स्वतंत्र नागरिक को जीना चाहिए। .....दलित साहित्य ने इन स्थितियों को उजागर किया है। जिस अनुभव संसार से साहित्य अनभिज्ञ था, उसकी अभिव्यक्ति से साहित्य को एक नया आयाम भी मिला है।""[3] निश्चित तौर पर ओमप्रकाश वाल्मीकि का यह कथन दलित समाज की वास्तविक स्थिति और यथार्थता को प्रकट कर रहा है।

यह कहना गलत नहीं होगा कि हिंदी में दलित कहानियों की परंपरा में ओमप्रकाश वाल्मीकि एक युगप्रवर्तक रचनाकार हैं। चाहे वह मानवीय संवेदना के स्तर पर हों या दलित चेतना के। उन्होंने न केवल अपने लेखन से दलित कहानियों का फ़लक विस्तृत किया है बल्कि उसमें कई नए मूल्यों को स्थापित कर उसे उत्कर्ष तक पहुंचाया है। घटनाओं की विविधता हो या बात करने का तरीका, हर जगह उन्होंने अपनी मौलिकता से दलित कहानियों को समृद्ध किया है। ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानियों में जो अनुभव व घटनाएं प्रस्तुत हुईं हैं। वह उनके चिन्तन और मद्दों के प्रति गंभीरता को दर्शाता है। उन्होंने अपने लेखन से समाज के संवेदनशील लोगों में एक बेचौनी अवश्य पैदा की है जिससे बहुत से मिथक व भ्रम टूटे हैं। समाज के जिन मूल्यों व मान्यताओं को बिल्कुल पवित्र व अनालोच्य मानकर बड़े ही शान से पीढ़ी दर पीढ़ी व्यवहारिक रूप में प्रयोग किया जाता रहा है। जब लेखक अपनी लेखनी के माध्यम से उसके वास्तविक स्वरूप को उद्घाटित कर समाज के समक्ष लाता है तो न केवल समाज के वास्तविक स्वरूप का पता चलता है बल्कि दलितों के खिलाफ होने वाले सामाजिक षड्यंत्रों, साजिशों व शोषण के भयावह मकड़जाल की पोल भी खुलती है। इस तरह लोगों के अन्दर इस व्यवस्था और इसमें विद्यमान रूढ़ियो के प्रति बदलाव की चेष्टा उत्पन्न होती है। वहीं दलित समुदाय इन सामाजिक षड्यंत्रों, व्यवस्थाओं व रीती–रिवाजों के पीछे छिपे षड्यंत्रों से रू–ब–रू होने के बाद वह इनके खिलाफ अपना विरोध प्रकट करते हुए दिखाई पड़ता है।

किसी भी व्यक्ति के अन्दर विरोध या प्रतिरोध का स्वरूप तब दिखाई पड़ता है, जब उसके विचारों, मूल्यों के विपरीत कार्य किया हो। अथवा उसके लिए ऐसे नियम या शर्त बनाए जाएं जिसमें केवल और केवल अपमान या शोषण का स्वरूप ही दिखाई पड़ता हो। ऐसी स्थिति में विरोध या प्रतिरोध का होना निश्चित हो जाता है। दलित समुदाय के लिए परंपराएं, रीति–रिवाज, धार्मिक आडंबर आदि सब उनके लिए शोषण के अड्डे रहे हैं जिनके जाल में पड़कर वह अनवरत शोषण, अपमान और गुलामी के दंश को तो झेलता ही रहा है साथ ही साथ समाज में अपनी पहचान और सम्मान पाने के लिए भी अपमानित और प्रताणित होता रहा है। यही कारण है कि जैसे ही वह इन साजिशों को समझने लगता है वैसे ही वह एकजुटता से इनके खिलाफ नकार व विद्रोह का स्वरूप प्रस्तुत करता है। 'सलाम' कहानी के माध्यम से लेखक ने समाज के अन्दर व्याप्त इन्हीं समस्याओं को चित्रित करने का प्रयास किया है। यह कहानी दलित समाज में व्याप्त रूढ़ियों, पाखंडों, कुरीतियों व सड़ी–गली मान्यताओं व परम्पराओं के पीछे की साजिशों को न केवल उजागर करती है बल्कि उनपर प्रश्नचिन्ह भी खड़ा करती है। परम्परा के मुताबिक दलित समदाय के दल्हे को शादी के बाद रश्मों को निभाने के लिए गांव में सवर्णों के घरों पर जा–जाकर सलाम की रश्म अदा करनी पड़ती है जिसके बदले उन्हें कुछ पैसे, बर्तन, कपड़े या अनाज मिल जाते हैं। इस कहानी में इसी रश्म को पूरा करने के लिए हरीश को कहा जाता है जो यह कहते हुए मना कर देता है कि "आप चाहे जो समझे..... मैं इस रिवाज को आत्मविश्वास तोड़ने की साजिश मानता हूं। यह सलाम की रस्म बंद होनी चाहिए।"[4] हरीश के अन्दर अपने समाज में व्याप्त रीती–रिवाजों के प्रति नकार का भाव आना कोई एक दिन में उत्पन्न चेतना के कारण संभव नहीं हुआ है बल्कि यह सदियों से चली आ रही पीड़ायुक्त जमा मैग्मा है जो उचित परिस्थिति में लावा के समान विस्फोटक रूप में निकलती हुई दिखाई पड़ती है, जो दलित पात्रों में प्रतिरोध के रूप में व्यक्त हो रही है।

'सलाम' कहानी का दलित पात्र हरीश प्रगतिशील व जागरूक पात्र है। इसीलिए वह अपने समाज में निभाई जाने वाली सलाम की रश्म को न केवल छोड़ना चाहता है बल्कि उसे अपने समाज से ही हमेशा–हमेशा के लिए समाप्त कर देना चाहता है। अपने समाज में विद्यमान इस रश्म को वह एक सोची–समझी साजिश मानता है जिसकी आड़ में उसके जैसे न जाने कितने दलितों के आत्मसम्मान और स्वयं को छोटा बनाए रखने की सोच के रूप में देखा जाता रहा है। यही कारण है कि वह जब भी अपने समाज में होने वाली शादियों में दल्हे के द्वारा इस रश्म को निभाते हुए देखता है तब–तब उसे अपने अन्दर अपमान बोध व आत्मग्लानि की पीड़ा उत्पन्न होती है। ओमप्रकाश वाल्मीकि ने हरीश की इस मनोदशा को कहानी में भी प्रदर्शित किया है। वे लिखते हैं, कि "हरीश ने जब–जब भी किसी दूल्हे या दुल्हन को इस तरह दरवाजे–दरवाजे घूमते देखा, उसे लगता था जैसे स्वाभिमान को चिंदी–चिंदी करके बिखेरा जा रहा है। बाजे–गाजे के साथ घूमता हुआ दूल्हा निरीह जीव दिखाई पड़ता था।"[5] हरीश न तो स्वाभिमानी पात्र है न ही परम्परावादी। इसीलिए वह आत्मसम्मान और आदर के साथ जीना चाहता है। तथा समाज में वह अपनी पहचान और अधिकारों को पाना चाहता है। इसीलिए वह सदियो से चली आ रही परम्परा को न केवल तोड़ता है बल्कि उसके खिलाफ अपना प्रतिरोध भी उत्पन्न करता है। हरीश जैसे जागरूक और चेतानाप्रद पात्रों को देखते हुए ही जितेंद्र श्रीवास्तव अपने एक लेख में लिखते हैं, कि "आपको आपका हक थाली में सजाकर कोई नहीं परोसेगा। इसके लिए आवाज उठानी होगी और स्वयं बोलना होगा। आपके हिस्से का सच कोई दूसरा नहीं कहेगा।"[6]

दलित चेतना का यथार्थ स्वरूप अभी हाल ही में (26 जुलाई, 2016 को) गुजरात के उना गाँव7 में घटित घटनाओं के रूप में भी देखा जा सकता है, जहां एक दलित के ऊपर गोहत्या का आरोप लगाने के कारण पूरे दलित समुदाय के लोगों ने एकजुट होकर यह प्रतिज्ञा की कि अब वह न तो मरे हुए जानवरों को उठाने जाएंगे और न ही उनके मांस इत्यादि खाएंगे। निश्चित तौर पर यह घटना वाल्मीकि कृत कहानी श्बैल की खालश की उसी घटना की ओर इशारा करती है जहां काले और भूरे के अन्दर अपने पुस्तैनी कार्यों से न केवल घृणा होने लगती है बल्कि वे इस कार्य को अपने बच्चों से भी दूर रखना चाहते हैं। चूँकि दोनों पात्र गाँव में मरे हुए जानवरों को उठाने का काम करते हैं जिसके बदले उन्हें समाज में घृणित और अपमान की नजरों से तो देखा ही जाता है; साथ ही साथ समय– समय पर उन्हें अपमानित और प्रताणित भी किया जाता है। वस्तुतः वे समाज के

लिए नीच हैं, अछूत हैं, मनुष्य नहीं। इस बात को काले और भूरे न केवल समझ रहे होते हैं बल्कि इससे होने वाली पीड़ा और अपमान के दंश से वे दिन–प्रतिदिन जूझ भी रहे होते हैं। यही कारण है कि एक दिन काला, भूरे से यह कहता हुआ दिखाई पड़ता है, कि 'भूरे हमें यूं काम छोड़ देना चाहिए।' चूँकि यहाँ लेखक ने काले और भूरे के अन्दर इस व्यवस्था को लेकर चल रही कुलबुलाहट को एक सार्थक संवाद के माध्यम से प्रदर्शित करने का प्रयास किया है। साथ ही दोनों पात्रों के अन्दर व्याप्त व्यवस्था और रूढियों से जुड़ाव एवं उनसे होने वाले मोहभंग की स्थिति को भी व्यक्त करने का प्रयास किया है। यही कारण है कि काले के जबाब को सुन कर भूरा नामक पात्र काले की ओर देखते हुए कहता है, 'क्यूँ...जो हमने इस काम को छोड़ दिया तो करेगा कौण। क्या मरे हुए ढ़ोर–डंगर गाँव में ही पड़े सड़ते रहेंगें. .. ।' इसके जबाब में काले नामक पात्र अपने अन्दर उठे लावा को व्यक्त करते हुए कहता है, 'सड़ने दो ...इस सड़ांध में हम गले–गले तक डूब जाते हैं। किसे परवाह है...कोई अपने धोरे (पास) बी ना बैठावे हैं।'[8] यहाँ काले और भूरे का एक–एक कथन सत्य को उद्घाटित करता हुआ नज़र आता है जहाँ एक ओर इस व्यवस्था से पलान की स्थिति लिए दिखाई पड़ता है तो वहीं कुछ पात्रों में व्यवस्था के अचानक टूटने अथवा छुटने की हिचकिचाहट भी देखने को मिलती है। इसके पीछे दलितों की आर्थिक समस्या, जातिदंश की पीड़ा और सामाजिक स्थिति को समझा जा सकता है। तभी तो इस कहानी में जहाँ काले नामक पात्र के अन्दर दलित जागरुकता व चेतना की स्थिति देखने को मिलती है तो वहीं भूरे नामक पात्र के अन्दर आस्था, रूढ़िवादिता व व्यवस्था की जकड़नों से जुड़े रहने की छटपटाहट दिखाई पड़ती है।

ओमप्रकाश वाल्मीकि की रचनाधर्मिता को देखते हुए जितेन्द्र श्रीवास्तव ने ठीक ही लिखा है, कि "ओमप्रकाश वाल्मीकि का सारा साहित्य चुप्पी के विरुद्ध निरंतर सार्थक बोलने के साहस का परिणाम है। उनके साहित्य में कुछ भी अपारदर्शी नहीं है। वहां न तो कुछ छिपाने के लिए है और न ही कुछ छिपाने की मंशा है। वहां शालीनता का कोई स्वांग भी नहीं है। जिसने भोजन के बदले गालियां खाई हैं वह पुष्प वर्षा नहीं करेगा।"9 ओमप्रकाश वाल्मीकि ने विभिन्न विषयों जैसे– आजीवन गुलामी, शोषण, छलाव, ईष्या, द्वेष, पाखण्ड, ढोंग और जातिगत भेद–भाव को रेखांकित करते हुए उत्कृष्ठ कहानियाँ लिखी है। उनकी कहानियों में आक्रोश का स्वरूप स्पष्टरू दिखाई पड़ जाता है। लेकिन यह आक्रोश विचार के धरातल पर रखते हुए पड़ताल करने की मांग करता है। इसी कारण उनके द्वारा द्रष्टव्य आक्रोश देर तक टिकता है और परिवर्तन की प्रेरणा देता है। वह किसी हड़बड़ी में नहीं दिखाई पड़ते बल्कि अपनी कहानियों के माध्यम से सामाजिक परिवर्तन कराकर ही सुकून लेना चाहते हैं।

भारतीय समाज में वर्ण व्यवस्था की संरचना एक सोची–समझी चाल है जिसमें कर्म के आधार पर जाति और वर्णों का विभाजन दिखाई पड़ता है। वर्ण व्यवस्था की संरचनात्मक स्थिति को परिभाषित करते हुए रामशरण शर्मा लिखते हैं, कि "वर्ण व्यवस्था के बुनियादी ढांचे को बनाए रखने और शूद्रों को अधम बनाकर रखने में जो एक बात बहुत सहायक हुई, वह है आम जनता को कर्म के सिद्धांत में विश्वास करा देना और यह समझा देना कि ईश्वर द्वारा निर्धारित वर्ण या जाति के कर्तव्यों का पालन नहीं करने के कुपरिणाम भोगने पड़ेंगे।"[10] समाज में वर्ण व्यवस्था की जड़ बहुत पुरानी है। हमारी मानसिकता का स्वरूप अपने संबंधी लोगों के बीच बिताए गए जीवन फलकों पर निर्भर करता है जिसे हम आम बोल–चाल की भाषा में संस्कार कहते हैं। वास्तव में हमारा समाज इतना रूढ़िग्रस्त और संवेदनशील है, कि हम उठते–बैठते, खाते–पीते, सोते–जागते एक दूसरे के विचारों व भावों की नकल अपने मन–मस्तिष्क में करते रहते हैं और यही मानसिक प्रवृतियों के रूप में स्थापित होती जाती है, जो हमारे अंदर ऊच–नीच के विभेद को उत्पन्न करती है। इसका यथार्थ स्वरूप 'कहां जाए सतीश ?' कहानी में भी देखने को मिलता है; जहां मि. पंत और मिसेज पंत को जब तक यह पता नहीं चलता कि सतीश एक भंगी है तब तक वह उनके घर में बड़े ही ठाठ से परिवार के सदस्यों के रूप में रहता है। लेकिन जैसे ही यह पता चलता है कि सतीश एक भंगी है वैसे ही दोनों की विचारधाराएं बदल जाती हैं। सतीश से उनका अपना–पन एक क्षण में ही न जाने कहाँ गायब हो जाता है। अब तो सतीश ही नहीं बल्कि उसका कपड़ा भी उनके लिए अछूत सा मालूम होता है। चूँकि लेखक समाज में विद्यमान वर्ण व्यवस्था के कुप्रभाव से भली–भांति परिचित है तभी तो वह इस व्यवस्था को बनाए रखने वाले उन सभी कार्यों, मान्यताओं आदि के वजूद पर प्रश्नचिह्न खड़ा करने का प्रयास किया है। इस क्रम में वे धार्मिक रीती–रिवाज, परम्पराएं, रूढ़िवादी मान्यताएं, ईश्वर, मंदिर, आस्था, भक्ति, कर्मकाण्ड आदि को एक सिरे से नकारा है। लेखक ने 'मकड़जाल' नामक कहानी में अपने भावों को व्यक्त करते हुए लिखा भी है; जहाँ धार्मिक आडम्बरों में लिपटे मेश्राम जी, जो की एक अच्छे पद पर भी हैं; लेकिन मंदिर और अपने ऑफिश में जातिदंश की भयावह पीड़ा से ग्रसित भी हैं। उनकी इस दशा को देखते हुए रमेश काम्बले नामक दलित पात्र उनसे कहता है, कि "मैंने तय कर लिया है कि मैं ऐसे तमाम अनुष्ठानों, कार्यक्रमों, पूजा स्थलों में हिस्सेदारी ही नहीं करूंगा, जहां मेरे मनुष्य होने पर प्रश्नचिन्ह लगता हो। मुझे ही नहीं उन लोगों को भी यह तय करना होगा कि वहां जाएँ ही क्यों जहां अपनी पहचान छुपानी पड़ती है।"[11]

ओमप्रकाश वाल्मीकि समाज की एक–एक घटनाओं से वाकिफ थे। वे दलित समाज में घटने वाली घटनाओं व दृश्यों के न केवल द्रष्टा ही रहे बल्कि उसके भोक्ता भी रहे। ग्रामीण परिवेश में जन्म लेने के कारण गुलामी, शोषण, छलाव, ईष्या, द्वेष, पाखण्ड, ढोंग और जातिगत भेद–भाव जैसी रूढ़िवादी प्रवृतियों को वे बचपन से देखते आ रहे थे। यही कारण है कि उनका लेखन मनोरंजन व चमत्कार उत्पन्न करने के लिए नहीं लिखा गया बल्कि अपने समाज की सच्चाईयों को सबके सामने रखते हुए उस व्यवस्था व समाज की हकीकतों से रू–ब–रू करवाने का प्रयास किया गया है जिसको आम जन देखी नहीं पाता। लेखक की लेखन के प्रति यथार्थता और प्रतिबद्धता को देखते हुए पाश्चात्य विद्वान एलियट का कथन यहाँ प्रासंगिक जान पड़ता है जहाँ वे लिखते हैं, "कलाकार जितना उत्कृष्ट होगा, उसमें भोक्ता और स्रष्टा का अंतर उतना ही होगा लेकिन जो भोक्ता ही नहीं वह कलाकार कैसे उत्कृष्ट होगा?"[12] निश्चित तौर पर एलियट की यह चिंता प्रासंगिक है और सत्य भी। ओमप्रकाश वाल्मीकि एक ऐसे कलाकार हैं जो उस समाज में रहते हुए वहाँ के एक–एक जीवनपरक विडंबनाओं को न केवल देखा ही बल्कि भोगा भी। इसीलिए वे अपने लेखन से इन रूढ़िवादी व अमानवीय प्रवृतियों पर गहरा कटाक्ष कर पाते हैं। तथा समाज के दोमुहे चेहरे का पर्दाफास भी करते नज़र आते हैं जो सदियों से समाज में एक वर्ग के साथ जानवरों जैसा वर्ताव करता रहा है। तथा उसे कभी भी मनुष्य की श्रेणी में स्थान ही नहीं दिया गया। समाज की इस विद्रूपता को देखते हुए उनका सदैव मंतव्य रहा है, कि मनुष्य ही सर्वोपरि था, है और आगे भी वही रहेगा भी। इसीलिए वही साहित्य वास्तव में सबका साहित्य हो सकता है जो मानवतवादी हो, मानवीय मूल्यों को प्राथमिकता देता हो।

छलाव तो दलित समुदाय के प्रत्येक व्यक्ति का होता रहता है चाहे वह सामाजिक स्तर पर हो या धार्मिक, सांस्कृतिक, आर्थिक स्तर पर। गांव–गांव की कहावत भी रही है जिसकी लाठी उसी की भैंस। निश्चित तौर पर यह कहावत बहुत से आयामों को खोलती है। समाज में एकाधिकार रूप से शासन करने के लिए

लाठी हमेशा से उच्च वर्ग के लोगों के पास रही है। वह इसका फायदा उठाते हुए अपने से नीची जातियों का शोषण भी करता रहा है। जैसे ब्राहमण, क्षत्रियों का। क्षत्रिय, वैश्यों का और वैश्य, शूद्रों का। लेकिन इन सबमें शूद्रों का शोषण चौतरफा होता है। जहां उसके लिए न कोई दुरूख बांटने वाला मिलता है और न सहारा देने वाला। इसीलिए वह अपने ऊपर होने वाले अत्याचार को अपनी नियति मानकर आजीवन भोगता रहता है। लेकिन जब कोई इस अत्याचार के खिलाफ आवाज उठाने की कोशिश करता है तब या तो उसे रहस्यमयी षड्यंत्रों के द्वारा हमेशा–हमेशा के लिए चुप करा दिया जाता है या स्वर्णवादी चक्रव्यू में डाल दिया जाता है। जहां से निकल पाना लगभग नामुंकिन होता है। 'यह अंत नहीं' कहानी वाल्मीकि की इसी प्रकार के षड्यंत्रों का पर्दाफाश करती है। जहां बिरमा जैसी न जाने कितनी दलित लड़कियां सचीन्दर जैसे उच्च जाति के लड़कों के द्वारा छेड़–छाड़ व बलात्कार का शिकार हो जाया करती हैं और अपनी इज्जत को ढ़कने के लिए चुप रहती हैं। लेकिन बिरमा चेतनाप्रद होने के कारण अपने ऊपर हुए अत्याचार का बदला लेने के लिए थाना और पंचायत का सहारा लेती है। ताकी सचीन्दर या उसके जैसी मानसिकता रखने वाले को सबक सिखा सके। लेकिन सचीन्दर के पिता तेजभान के शक्तिशाली और जातिश्रेष्ठता के सामने बिरमा का प्रयास निर्थक साबित होता है। तेजभान अपनी ताकत और बाहुबलियत का परिचय देते हुए बिरमा के पिता से कहता है, "मंगलू तू मुझे अच्छी तरह पिछाणे है। फिर भी ऐसी हरकत की है। क्या समझता है पंचायत हमें फांसी पर चढ़ा देगी। पंचायत है क्या? हमारे पाँव की जूती। प्रधान कोई भी रहे नकेल हमारे हाथ में होती है। जा, जाके अपनी बेट्टी कू समझा। कुछ ऐसा–वैसा हो गिया तो मुझे दोस मत देणा... आगे तेरी मर्जी।"13 निश्चित तौर पर तेजभान का एक–एक शब्द समाज के उस खोखलेपन को निरूपित करता है जिसमें सवर्णवादी मानसिकता के संस्थापकों का निवास दिखाई पड़ता है; तभी तो युवा पीढ़ी के दलित बच्चे जो किसन या बिरमा जैसी मानसिकता रखते हुए इस व्यवस्था के खिलाफ लड़ने के लिए खड़े होते हैं। उन्हें इन वर्णवादी षड्यंत्रों की जाल में फंसाकर उलझा दिया जाता है। अथवा उन्हें खौफ दिखाकर शांत करवा दिया जाता है। चाहे वह कानूनी प्रक्रिया के माध्यम से हो या आदलती प्रक्रिया के द्वारा।

कुछ इसी तरह की घटना 'बवंडर' फिल्म में देखने को मिलती है जो राजस्थान के भंवरी देवी बलात्कार कांड से जुड़ी है। जिसमें अपने साथ हुए अन्याय की सजा दिलवाने के लिए सबसे पहले पुलिस इंस्पेक्टर के द्वारा उसी वर्ण व्यवस्था के प्रभाव के कारण अपमानित होना पड़ता है; वहीं दूसरी ओर आदालत जैसे न्यायप्रिय जगह पर भी उसके उम्मीदों को धक्का पहुंचाता हैं जब जज साहब बलात्कारी मुजरिमों को बेगुनाह साबित करते हैं। हद तो तब हो जाती है जब जज साहब अपना फैसला सुनाते हुए यह कहते हुए नज़र आते हैं, कि बलात्कार करने वाले लोग उच्च जाति के हैं और वे नीची जाति के लोगों से सदैव दूर रहते हैं। उनके शरीर को छूना तो दूर उनकी छाया को भी छुना पसंद नहीं करते। इस तरह भंवरी देवी द्वारा लगाया गया बलात्कार का आरोप वाज़िब नहीं ठहरता। चाहे वह 'यह अंत नहीं' की बिरमा हो या 'बवंडर' फिल्म की सांवरी दोनों के साथ हुए शोषण, छलाव व अपमान की स्थिति लगभग एक जैसी ही दिखाई पड़ती है। तथा दोनों के द्वारा किया गया विरोध व प्रतिरोध भी लगभग एक जैसा ही देखने को मिलता है। जिनमें दलित चेतना के स्वरूप को बखूबी देखा जा सकता है। बिरमा हो या सांवरी देवी दोनों निडर पात्रा हैं; इसीलिए दोनों अपने ऊपर हुए एक–एक छलाव को खोलकर रख देना चाहती हैं। लेकिन कहें तो कहें किससे, जहां सुनने वाले और निर्णय करने वाले ही बहरा व अन्धा बनकर बैठे हुए हैं। उनके कानों में बस उन्हीं की आवाज गूंज सकती है जो जाति से उच्च शक्तिशाली ठहरते हैं और अपनी बाहुबलियत के दम पर उन्हें अपने इशारों पर नचा सकते हैं। पंचायत, कानून, न्यायालय सब उन्हीं के हैं, उन्हीं के हाथों की कठपुतली हैं और इसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं जान पड़ते। "विद्रोह तभी होता है जब कोई चीज गले में पत्थर की तरह लटक जाती है।"14 निश्चित रूप से गिरिराज किशोर का यह कथन यथार्थपूर्ण ठहरता है। दलित समाज के सामने जाति एक ऐसा प्रश्नचिन्ह है जहां वह हमेशा से अपने साथ छलाव महशूस करता रहा है। इसीलिए दलित साहित्य का वजूद मुख्यधारा के साहित्य के सामानांतर दिखाई पड़ता है। प्रेमचंद अपने निबन्ध संग्रह 'साहित्य का उद्देश्य' में लिखते हैं, कि "साहित्य उसी रचना को कहेंगे जिसमें कोई सच्चाई प्रकट की गई हो, जिसकी भाषा प्रौढ़, परिमार्जित और सुंदर हो और जिसमें दिल और दिमाग पर असर डालने का गुण हो और साहित्य में यह गुण पूर्ण रूप से उसी अवस्था में उत्पन्न होता है, जब उसमें जीवन की सच्चाईयां और अनुभूतियां व्यक्त की गई हो।"15 यह सत्य है कि साहित्य किसी भी समाज की वास्तविक घटनाओं का प्रतिबिम्ब होता है। समाज के अंतर्गत घटने वाली घटनाओं व स्थितियों का अवलोकन हम साहित्य के माध्यम से आसानी से कर लेते हैं। ऐसे में साहित्य का दायित्व चुनौतीपूर्ण होने के साथ–साथ लोकतांत्रिक विचारों को धारण किए हुए होना चाहिए। लेकिन जब साहित्य की राह या विचारधारा बदलने लगती है। अथवा अपने कर्तव्यों से इतर कार्य करने लगती है तब साहित्य के वजूद पर प्रश्नचिह्न उठने लगते हैं। तथा उसके सामानांतर अनेक विचारधाराओं का उद्बोधन होने लगता है। दलित साहित्य इन्हीं प्रक्रियाओं का एक हिस्सा है जिसने आज सभी बद्धिजीवी को अपनी विचारधारा से प्रभावित किया है।

## निष्कर्ष

यह कहा जा सकता है कि ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानियों में चित्रित पात्र अपनी अस्मिता, पहचान व अपने अधिकारों को लेकर न केवल सचेत दिखाई पड़ते हैं बल्कि उन्हें पाने के लिए निरन्तर संघर्षरत भी दिखाई पड़ते हैं। यह कहना गलत नहीं होगा कि ओमप्रकाश वाल्मीकि सामाजिक व्यवस्था, धार्मिक आडम्बर, रुढ़िवादी मान्यताओं आदि जैसे पहलुओं से अच्छी तरह परिचित थे। वे दलित समुदाय के साथ होने वाले एक–एक षड्यंत्र को अच्छी तरह समझते थे। इसीलिए वे अपनी कहानियों के माध्यम से समाज में जागृति पैदा करना चाहते थे। वे जानते थे कि इस व्यवस्था से लड़ने के लिए शिक्षा व जागरूकता दोनों का होना आवश्यक है। इसी कारण उनकी सभी कहानियों में वर्णवादी व्यवस्था व ब्राह्मणवादी विचारधारा की साज़िशों का पर्दाफ़ाश हुआ है। साथ–साथ उस व्यवस्था के खिलाफ प्रतिरोध भी। वे अपने दुश्मनों को अच्छी तरह पहचानते हैं। तथा उनके विविध षड्यंत्रों को भी। इसीलिए उनसे लड़ने के लिए वे सर्वप्रथम अपनी कमजोरियों को दूर करना सबसे पहला कदम मानते हैं। उनका मानना है कि हमारा दुश्मन केवल आर्थिक तौर पर ही मजबूत नहीं है; बल्कि बौद्धिक रूप से भी वह बहुत चालाक है। इस लिए इस संघर्ष को लड़ने के लिए शिक्षित होने के साथ–साथ एकजुट होने की भी जरूरत है तभी हम उनके षड्यंत्रों को ठीक से पहचान पाएंगे और उनसे प्रतिरोध कर पाएंगे।

## संदर्भ ग्रंथ

1. वर्मा, डॉ. रामकुमार (सं.), संक्षिप्त हिन्दी शब्द सागर, नगरी प्रचारिणी सभा, काशी, संस्करण– 1958, पृष्ठ सं.– 512
2. लिंबाले, शरण कुमार, दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, संस्करण– 2010, पृष्ठ सं.– 42

3. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, छतरी, राधाकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, संस्करण– 2015, भूमिका से
4. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, सलाम, राधाकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, संस्करण– 2014, पृष्ठ सं.– 17
5. वही, पृष्ठ सं.– 16
6. श्रीवास्तव, जितेंद्र, नए सूर्य की नीली आभा, बया पत्रिका, जनवरी–मार्च– 2014, पृष्ठ संख्या– 87
7. https@@www-bbc-com@hindi@india@2016@07@160726
8. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, सलाम, राधाकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, संस्करण– 2014, पृष्ठ सं.– 35
9. श्रीवास्तव, जितेंद्र, नए सूर्य की नीली आभा, बया पत्रिका, जनवरी–मार्च– 2014, पृष्ठ संख्या– 87
10. शर्मा, रामशरण, शूद्रों का प्राचीन इतिहास, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण– 1992, पृष्ठ संख्या– 28
11. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, छतरी, राधाकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, संस्करण– 2015, पृष्ठ संख्या– 91
12. 'बेचौन' डॉ. श्यौराज सिंह, चौबे, डॉ. देवेन्द्र (सं.), चिंतन की परंपरा और दलित साहित्य, नवलेखन प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण– 2002, पृष्ठ सं.– 118
13. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, घुसपैठिये, राधाकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, संस्करण– 2011, पृष्ठ सं.– 27
14. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, राधाकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, संस्करण– 2011, पृष्ठ सं.– 28
15. प्रेमचंद, साहित्य का उद्देश्य, डायमंड पॉकेट बुक्स, दरियागंज, नई दिल्ली, संस्करण– 2005, पृष्ठ संख्या– 8